Bundelkhand Journal of Academic Research

भारत में भक्ति आन्दोलन की मूल्य चेतना का अवलोकन

डॉ. जय प्रकाश सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर (इतिहास), राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय बांदा, उत्तर प्रदेश।
(**Corresponding Author:** jayprakash7619@gmail.com)
https://doi.org/10.5281/zenodo.23005628

सारांश

भारत में भक्ति आंदोलन केवल एक धार्मिक या सामाजिक घटना नहीं थी, बल्कि यह भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक और नैतिक पुनर्जागरण की सबसे प्रबल धारा थी। मध्यकाल (विशेष रूप से 8वीं से 17वीं शताब्दी) के दौरान दक्षिण भारत से अलवार और नायनार संतों द्वारा प्रारंभ हुई यह धारा उत्तर भारत तक फैल गई और समाज के हर वर्ग को स्पंदित किया। भक्ति आंदोलन की 'मूल्य चेतना' सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों का एक ऐसा समावेश थी, जिसने समाज की जड़ता को तोड़कर मानवीय संवेदनाओं को केंद्र में रखा हैं। भक्त कवियों की वाणी में रचनात्मक मूल्य चेतना है। भक्ति आन्दोलन की लोक जागरणवादी परंपरा में हम पाते हैं कि अधिकांश रचनाकारों की रचनाओं में मानवीय पीड़ा का बोध बहुत गहरा है। सामाजिक अंतर्वस्तु में बदलाव और परिवर्तन के लिए संतो की सक्रियता देखते बनती है। इनका उद्देश्य ऐसे जीवन मूल्यों का प्रतिपादन करना था जिससे पुरोहितवाद, पुराणवाद, कर्मकाण्डवाद आदि के चलन को कम किया जा सके। अपमानित जीवन जीने को अभिशप्त निचले वर्ग में आत्मविश्वास पैदा करने और विश्वास को कायम रखने के लिए संतो ने विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया और जनता तक अपने सन्देश पहुंचाते रहे। इन संत रचनाकारों ने अपने चिंतन और साहित्य से भारतीय समाज एवं संस्कृति के इस सत्य को ध्वनित किया कि ईश्वर के समक्ष न कोई छोटा है न कोई बड़ाय उसकी नजर में सभी मनुष्य बराबर हैं। समतामूलक दृष्टि के द्वारा समाज में परिवर्तन लाने के लिए संतों ने व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर कई प्रयास किए।

आलेख सूचना

प्राप्त: 14 अगस्त, 2026 **स्वीकृत:** 26 अगस्त, 2026 **प्रकाशित:** 30 सितंबर, 2026

सारणी: 00 **चित्र एवं ग्राफ:** 00 **स्रोत एवं संदर्भ:** 10

मुख्य शब्द: मूल्य चेतना, पुरोहितवाद, भक्ति आंदोलन, लोकवृत्त, खंडनात्मक शैली, मध्यकाल।

1. परिचय एवं पृष्ठभूमि: भक्ति आन्दोलन की सांस्कृतिक विकास यात्रा पर सम्यक नजर दौड़ाने पर हम पाते हैं कि पुराणमतवादी व्याख्याओं और व्यवस्थाओं को चुनौती देते हुए एक अभूतपूर्व संत परंपरा का आविर्भाव होता है। इस परंपरा में निम्नवर्ग के संतों की आमद अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण थी। शूद्र वर्गों का एक नया संसार साहित्य और कविता में पहली बार दाखिल होता है। यह साहित्य आम मनुष्य की चेतना के उन सपाट बिन्दुओं को संश्लिष्ट बनाता चलता है जिसमें मानवता का हित समाहित है। भक्ति काव्य भारतीय जनता की सर्वाधिक मूल्यवान विरासत इसी नाते है क्योंकि इसमें आम जन की शक्ति हैय आम जन की पीड़ा, आकांक्षा और संघर्ष की चेतना अन्तर्निहित है। इसमें संदेह नहीं कि बीसवीं शताब्दी में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की मुक्ति चेतना को संत साहित्य से सांस्कृतिक नवजागरण का प्रकाश मिला। भक्ति आन्दोलन अखिल भारतीय संस्कृति की नवप्रेरणा के उल्लास से फूटा एक ऐसा आन्दोलन है जिसके बाहरी ढब में भले ही धर्म और भक्ति का रंग चढ़ा हो लेकिन इसकी आन्तरिकता में संस्कृति के चटक रंग बिखरे हुए हैं। ग्रहण और त्याग के विवेक के साथ इस आंदोलन ने सिद्धों–नाथों के चमत्कारी, करामाती रूपों को पीछे धकेलकर इनके दर्शन के मूल सार को ग्रहण किया। 'सार सार को गहि चले थोथा देहि उड़ाय' की उक्ति को यहाँ चरितार्थ होता हुआ देखा जा सकता है। नामदेव, कबीर, नानक, मलूकदास, रैदास, दादूदयाल, धना भगत, पीपा, दरियासाहब, कीनाराम, रज्जब आदि अनेक रचनाकारों ने काव्य के माध्यम से जो कुछ भी कहा वह उनका भोगा हुआ अनुभव था इसीलिए उसमें खरापन है। संत साहित्य की चिंता और पीड़ा में कोटि–कोटि साधारण जनों की पीड़ा नत्थी है। संत कवियों के यहाँ भूख की चिंता के पद कई जगहों मिलते हैं। संत रैदास कामना करते हैं कि "ऐसा चाहों राज मैं जहाँ मिलै सबन कौ अन्न। छोट बड़ो सभ सम बसैं रविदास रहैं प्रसन्न।[1]"

भक्ति काव्य समाज को एक नयी दिशा देने में कितना सफल हुआ यह चर्चा का विषय हो सकता है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसने लोक से संवाद करते हुए, उसे आत्मसुधार के लिए प्रेरित किया। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की इस महत्वपूर्ण स्थापना पर गौर किया जाना चाहिए कि "भक्ति साहित्य संसार के बाह्य रूप को यथा–स्थित छोड़कर व्यक्ति–मानव के चित्त में परिवर्तन लाने पर अधिक जोर देता है। वह लौकिक रस के कवियों की रचनाओं की तुलना में अधिक मुक्त और अधिक कुंठाहीन है, इसमें कोई संदेह नहीं। भक्ति साहित्य अपने आप में स्तब्ध और कुंठित साहित्य नहीं है,पर परिवर्तन का लक्ष्य अदृष्ट होने के कारण वह पूर्ण मुक्त नहीं है।[2]"

संतों के क्रांतिकारी विचारों से प्रेरणा पाकर किसानों, मजदूरों ने सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई जिसके पर्याप्त प्रमाण मध्यकालीन भारतीय इतिहास में मौजूद हैं। हालांकि यह विरोध राजा के खिलाफ नहीं बल्कि उन सामन्तों के खिलाफ है जो प्रत्यक्ष तौर पर गरीब जनता का शोषण करते थे। लोक जागरण के विकास में श्रम की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और ज्यादातर संत श्रम–कार्य से जुड़े रहे। उन्हें अपनी मेहनत पर पूरा भरोसा था इसलिए उनके सामने न किसी के समक्ष हाथ फैलाने की मजबूरी थी और न ही गिड़गिड़ाने की जरूरत। रैदास कहते हैं कि "जूतिन गांठि निबाह करै तन और उपांनत संतन कीया। सालगरामहि छानि छवावत, आप सवा हरि बांटहि धीया।।[3]" श्रम का सौन्दर्य ही संत कविता की ऐसी ऐतिहासिक शक्ति है जहाँ उसमें प्रतिष्ठित चेतना नयी संभावनाओं की पहचान कराती है। जन पक्षधरता संतों की विचारधारा है और श्रम से उपजा आत्मसम्मान इनकी ताकत। इन कवियों ने जो भी कहा, बिना किसी दुराव–छिपाव के और बेलौस होकर कहा। संतों की स्वीकारोक्तियों में जो टटकापन है वह उनकी बोली–बानी की मौलिकता के चलते ही है! कहन की मौलिकता के चलते ही संत कविता इतनी संप्रेषणीय है! भारतीय समाज ने हमेशा ही उदारता और सहिष्णुता की संस्कृति को अपनाए रखा। विभिन्न धार्मिक, जातिगत, भाषायी समूहों के समन्वय द्वारा भारत की महान संस्कृति फलती–फूलती रही है। भारतीय संस्कृति ने सहकार और सह–अस्तित्व की कोपलों को फूटने के लिए उपजाऊ जमीन प्रदान की और उन कोपलों से निकले वृक्षों ने सभी को छाया दी। इतिहास इस बात का गवाह रहा है कि समाज में हमेशा कट्टरवादियों एवं असहिष्णु लोगों ने अहिंसा एवं न्याय के पक्ष में लगे लोगों को उनके इस सत् कार्य से च्युत करने का प्रयास किया। इस बात के भी कई प्रमाण मौजूद हैं, जहाँ न्याय के पक्ष में लड़ने वाले लोगों पर हमले हुए। इस तथ्य की भी तस्दीक की जानी चाहिए कि नाथों और सिद्धों के मध्य कई बार खूनी संघर्ष तक हुए। ऐसी तमाम बातों के बावजूद भारतीय समाज और संस्कृति ने अपनी मूल चेतना में समाई उस सहकार, प्रेम और आदर की भावना को नहीं छोड़ा। उदाहरण के लिए, सम्राट अशोक हमारी जातीय स्मृति में सहिष्णुता और करुणा की मूर्ति के रूप में इसीलिए प्रतिष्ठित हैं क्योंकि उनका विवेक हमारी भारतीयता की अन्तरंग चेतना को आत्मसात कर अपना आगे का रास्ता चुनता है। एक ऐसा रास्ता जिसमें सभी चलते हुए अपनी मंजिल तक पहुँचने की तितीर्षा में अपने शुभ संकल्पों को एक दूसरे से शेयर करते हैं। इस सन्दर्भ में सम्राट हर्ष भी हमारे लिए महत्वपूर्ण उदाहरण हैं जिन्होंने सातवीं शताब्दी में ब्राह्मणों और बौद्धों को समान रूप से प्रोत्साहित किया ।

भक्ति–कविता की संस्कृति' मनुष्य को विनम्र बनाती है,सरल और सहज संस्कार देती है। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' जैसी पंक्तियों की व्यंजना में तुलसीदास की विनम्रता और सरलता झलकती है। दरअसल यही विनम्रता और सरलता भक्ति काव्य की अन्यतम विशेषता है। रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही तुलसीदास जी 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' की उद्घोषणा करते हैं। वह आत्म ज्ञान और आत्म सुख के लिए राम की गाथा लिख रहे हैं न की अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए। यही बात ललित कलाओं पर भी लागू होती है। वे सब मानव–संस्कृति के वाहक है। मूल्य दृष्टि से कटकर वे संस्कृति नही, विकृति के द्योतक हो सकते हैं। भक्ति इन संतों के लिए कष्टों से मुक्ति का एक अवलम्ब है। उल्लेखनीय है कि यहाँ भक्ति और कर्म पृथक नहीं बल्कि अन्योन्याश्रित हैं। दरिया साहब कहते है कि "सकल कवित का अरथ है, सकल बात की बात। दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात।।[4]"

समाज एवं संस्कृति की व्याख्या करते हुए नीति–नैतिकता की बार–बार चर्चा की जाती है। गांधी जी ने 'रामराज्य' की परिकल्पना प्रस्तुत की थी वह तुलसीदास की इस धारणा पर आधारित था कि रामराज्य समस्त मनुष्यों को समान रूप से बढ़ने का मौका देता है। वह नीति, मर्यादा और नैतिकता के निकष पर खरा उतरने वाले रामराज्य की प्रस्तावना करते हैं। रामराज्य की परिकल्पना को समझने के लिए मनुष्य और उसकी संस्कृति के विकास–क्रम को अच्छी तरह जानना होगा। भारतीय संस्कृति में अवतार की कल्पना इसी विकास के क्रम को रूपायित करती है। इस विकास क्रम के अर्थ में ही अवतार का रहस्य छिपा है। इस क्रम में क्रमशः जल–थल और दलदल के जीव, बाद में पशु और नव मानव का जन्म होता है। फिर पशुता से मुक्ति, शारीरिक रूप से अपूर्ण मानव वामन और तामसिक मानव परशुराम के सृजन की प्रक्रिया से होकर पूर्ण मानव राम का आविर्भाव होता है। यह प्रतीक कथा है। रामराज्य के नायक राम का उदय तब होता है, जब हर दृष्टि से पूर्ण होकर मानव, एक से अनेक होने के क्रम में समाज की स्थापना करता है अर्थात् अपने सुख के लिए अपनी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाता है। तभी नीति–नियम, कर्तव्य और कर्म संहिताबद्ध होते हैं और एक आदर्श समाज अस्तित्व में आता है। पाने के लिए देने की महत्ता स्थापित होती है। यही नैतिकता है जो भक्ति आंदोलन के मूल में है।

संत साहित्य की चिंता के केंद्र में साधारण जनों की मुक्ति का सवाल है। ध्यान रहे कि यह मुक्ति जितनी सामाजिक–सांस्कृतिक है उतनी आध्यात्मिक नहीं। दरअसल यहाँ आध्यात्मिकता और जीवनगत संकट एक दूसरे के पूरक हैं। मलूकदास कहते हैं कि 'सच्चा पीर' वही है जो दूसरे की पीड़ा को अनुभव करे। दूसरे की पीड़ा का जिसे बोध ही न हो सके उसे मनुष्य का दर्जा दिया ही नहीं जाना चाहिए। बहरहाल इसमें संदेह नहीं कि मलूकदास की यह पीड़ा 'भेदभाव जनित' अनुभव से उपजी है। अमानवीय जाति–व्यवस्था में निम्नवर्गीय जातियों का उत्पीड़न मध्यकालीन समाज की अनिवार्य विशेषता रही है। इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि हमारी आलोचना इन पदों में गूढ़ अर्थ खोजने लगती है और संत कविता में उठाये गए जमीनी सवालों से टकराने के बजाए किसी और दिशा की ओर शिफ्ट हो जाती है। यह भक्ति आन्दोलन के सामाजिक आधारों की अनदेखी है जिसकी नोटिस ली जानी चाहिए। कलात्मक समृद्धि को ही सब कुछ मान कर चलने वाले कतिपय आलोचकों को यह दिखा ही नहीं कि संत कविता की इस आन्दोलनधर्मी परंपरा के अन्दर एक नए समाज के निर्माण का स्वप्न पल रहा था! संतों के पास अपने समाज को बदलने का विजन भले ही बहुत स्पष्ट न रहा हो पर उनके पदों–सबदों–वाणियों में मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों ही दृष्टियों से बदलाव के लिए छटपटाहट मौजूद है।

जाति, धर्म, संप्रदाय की चौहद्दियों को तोड़ते हुए संतों ने मानवधर्म को सर्वोपरि माना। उनका अपना अनुभव था कि मुक्ति की राह स्व–मुक्ति से ही निर्मित होती है। इसी नाते रैदास जैसे संत बार–बार समझाते हैं कि मुक्ति कोई बाहरी वस्तु नहीं बल्कि वह आंतरिक जागरण है–"पांड़ें ! हरि विचि अंतर डाढ़ा। मुंड मुड़ावै सेवा पूजा, भ्रम का बंधन गाढ़ा।[5]" धर्म और सत्ता के मठों की निरंकुशता का नग्न रूप इन संतों ने अपनी आँखों से देखा था। जिस समाज व्यवस्था के महाप्रभुओं ने निम्न जातियों को भक्ति के अधिकार से वंचित कर रखा था। उन संकीर्ण दीवारों को ढहाते हुए रैदास सभी साधारण जनों को भक्ति का अधिकारी घोषित करते हैं कि "सति बचन रविदास उचारा। हरि भगत मांहि सब को अधिकारा।[6]" यह आकस्मिक नहीं कि अधिकतर संत कवि नकली मर्यादाओं को बेनकाब करते चलते हैं और धर्म के पाखण्ड को आड़े हाथों लेते हैं। मलूकदास शब्दांकित करते हैं कि 'ऊंचा वह नहीं है जो ऊंची जात का है' बल्कि जिसके भीतर करुणा और दया का भाव है, वही ऊंचा है। जो दंभपूर्ण तरीके से अपने को ऊंचा साबित करते हैं वो तो बिलकुल ही ऊंचे नहीं हैं वरन जो 'श्रेष्ठता के अहंकार से मुक्त होकर' विनम्रता पूर्वक जीवन जीते हैं, वही ऊंचे होते हैं। संत साहित्य जीवन मूल्यों के विकास पर बल देने के साथ, भेदभाव–रहित समाज की बुनियाद रखता है। ऐसा ज्ञान और ऐसी भाषा जो भावों के प्रसार में बाधा पहुंचाने वाली हो उस भाषा और ज्ञान को अस्वीकारते हुए इन संतों ने नए गीत लिखे, नए शब्द रचे और लोक परम्पराभिमुख प्रयोगों को अपनी रचनाओं में स्वीकृति दी। अभिव्यंजना शैली सशक्त और प्रभावशाली तभी बनती है जब भाषा प्रयत्न साध्य न होकर सरल और सहज हो।

2. परिचर्चा एवं परिणाम : भारत में भक्ति आंदोलन मध्यकाल का एक ऐसा महान सांस्कृतिक और सामाजिक आंदोलन था, जिसने भारतीय समाज की मूल्य चेतना को पूरी तरह बदल दिया। यह केवल एक धार्मिक पुनर्जागरण नहीं था, बल्कि इसने तत्कालीन रूढ़ियों, सामाजिक असमानता और आडंबरों के खिलाफ एक वैचारिक क्रांति की शुरुआत की थी, जिससे समाज में एक सार्वभौमिकता मूल्य चेतना का प्रवाह हुआ है। उदाहरण के लिए–

2.1. समता और सामाजिक न्याय: भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी मूल्य चेतना जाति–पाति और ऊंच–नीच का विरोध थी। संतों ने यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर की भक्ति पर हर मनुष्य का समान अधिकार है। भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी मूल्य चेतना समानता थी। कबीर, रविदास, दादू दयाल, और गुरु नानक जैसे संतों ने जाति व्यवस्था, ऊँच–नीच और छुआछूत का कड़ा विरोध किया। जैसाकि कबीर का कथन कि ''जाति–पाति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।'' भक्ति का द्वार सभी के लिए खोल दिया गया। चाहे वे किसी भी जाति, लिंग या वर्ग के हों। कबीर (जुलाहा), रविदास (चर्मकार), सेना (नाई), और पीपा (राजा) सभी एक ही आध्यात्मिक धरातल पर खड़े दिखे।

2.2. मानवतावाद और करुणा: इस आंदोलन ने मानव प्रेम को ही ईश्वर प्रेम माना। परोपकार, सहानुभूति और दूसरों के दुख को समझने को सबसे बड़ा धार्मिक मूल्य घोषित किया गया। जैसाकि नरसी मेहता का प्रसिद्ध भजन कि ''वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।'' (सच्चा भक्त वही है जो दूसरों की पीड़ा को समझता है)।

2.3. आडंबरों और रूढ़ियों का विरोध: संतों ने बाह्य आडंबरों जैसेकृमूर्तिक पूजा (निर्गुण संतों द्वारा), तीर्थयात्रा, बलि, व्रत, और पाखंडी अनुष्ठानों का तीखा विरोध किया। कबीर ने स्पष्ट कहा कि ''पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।'' यानी ईश्वर बाहरी आडंबरों से नहीं, बल्कि निर्मल मन और आचरण की शुद्धता से प्राप्त होता है। उन्होंने अंतःकरण की शुद्धि और आंतरिक पवित्रता पर बल दिया। कबीर ने हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों की कुरीतियों पर तीखे प्रहार किए।

2.4. नैतिक आचरण और गुरु की महत्ता: भक्ति चेतना में गुरु को ईश्वर से भी ऊंचा या उनके समकक्ष स्थान दिया गया। गुरु को अज्ञानता के अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाने वाला मार्गदर्शक माना गया। केवल ईश्वर ध्यान पर्याप्त नहीं थाय आचरण की पवित्रता को अनिवार्य माना गया। सत्य बोलना, अहिंसा, दया, क्षमा, संतोष, और अहंकार (हौमै) का त्याग इस चेतना के मूल स्तंभ थे। 'गुरु' की महत्ता को रेखांकित किया गया, जो

अज्ञानता का नाश कर शिष्य को सत्य का मार्ग दिखाता है। इस आंदोलन ने कर्मकांडों, बलिप्रथा और कठिन तपस्या के बजाय ईश्वर के प्रति निष्काम प्रेम (भक्ति) को सर्वोपरि माना।

2.5. लोकभाषाओं का सम्मानः भक्ति संतों ने ज्ञान और भक्ति को संस्कृत के बंधनों से मुक्त कर जनभाषा (अवधी, ब्रज, मैथिली, मराठी, पंजाबी, तमिल) में फैलाया। भक्ति आंदोलन ने ज्ञान को संस्कृत के आभिजात्य वर्ग के एकाधिकार से बाहर निकाला। संतों ने जनता की भाषा (अवधी, ब्रज, मैथिली, पंजाबी, मराठी, बांग्ला, तमिल) में रचनाएँ कीं। इससे समाज के अंतिम व्यक्ति तक वैचारिक चेतना पहुँची और क्षेत्रीय साहित्यों का अभूतपूर्व विकास हुआ। तुलसीदास ने रामचरितमानस को अवधी में लिखा, कबीर ने सधुक्कड़ी अपनाई, और शंकरदेव ने असमी का प्रयोग किया। इससे जन–साधारण में अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति स्वाभिमान जागा।

2.6. नारी चेतना और मुक्तिः मध्यकालीन रूढ़िवादी समाज में जहाँ महिलाओं पर कई पाबंदियाँ थीं, भक्ति आंदोलन ने उन्हें आध्यात्मिक स्वतंत्रता दी। मीराबाई, अक्का महादेवी, और ललद्यद जैसी महिला संतों ने पुरुष प्रधान समाज की सीमाओं को तोड़कर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाई।

2.7. आत्म–समर्पण और अहंकार का नाशः भक्ति का मूल आधार 'अहंकार का त्याग' है। संतों के अनुसार जब तक मनुष्य के भीतर 'मैं' (अहंकार) है, तब तक वह ईश्वर या सत्य को नहीं पा सकता। तुलसीदास की 'दास्य भक्ति' और सूरदास की 'सख्य भक्ति' इसी आत्म–समर्पण को दर्शाती हैं।

3. भक्ति आंदोलन की प्रासंगिकताः वर्तमान में भी भक्ति आंदोलन सामाजिक समरसता, मानवीय मूल्यों और अंतरधार्मिक सौहार्द को बनाए रखने के लिए अत्यधिक प्रासंगिक है। जाति, लिंग और वर्ग के भेदों को अस्वीकार कर समाज में सबको समान अधिकार देने की प्रेरणा आज भी प्रासंगिक है। बाह्य आडंबरों, दिखावे और पाखंड से दूर रहकर शुद्ध आचरण और मानव सेवा को सर्वोपरि मानना आज की आवश्यकता है।

भक्ति आंदोलन ने हिंदू–मुस्लिम संस्कृतियों के बीच संवाद कायम किया। सूफीवाद और भक्ति धारा ने एक–दूसरे को प्रभावित किया, जिससे साझी संस्कृति (गंगा–जमुनी तहजीब) का निर्माण हुआ। भक्ति आंदोलन ने स्त्री चेतना का विकास किया है। मीराबाई, अक्का महादेवी, लल्लेश्वरी (ललद्यद) जैसी महिला संतों ने पितृसत्तात्मक सामाजिक बंधनों को तोड़कर भक्ति के माध्यम से अपनी स्वतंत्रता और पहचान की अभिव्यक्ति की है। भक्ति आंदोलन ने लोकतांत्रिक चेतना का बीजारोपण किया है। समाज के अंतिम व्यक्ति को आध्यात्मिक अधिकार देकर भक्ति आंदोलन ने भारतीय समाज में लोकतंत्र और भ्रातृत्व की नींव रखी है। इस तरह भक्ति आंदोलन केवल अतीत की एक धार्मिक लहर नहीं थी। इसकी मूल्य चेतना 'समानता, भ्रातृत्व, लोकभाषा का सम्मान, और नैतिक आचरण' आज भी भारतीय समाज और संविधान के लोकतांत्रिक मूल्यों का मूलाधार बनी हुई है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि भारत में भक्ति आंदोलन की मूल्य चेतना ने धार्मिक संकीर्णता को तोड़कर उदारता, विभेद को मिटाकर एकता, और बाहरी दिखावे को छोड़कर आत्मिक शुद्धता को स्थापित किया। इसी मूल्य चेतना के कारण यह आंदोलन सदियों बाद आज भी भारतीय समाज के नैतिक और सांस्कृतिक ढांचे का आधार बना हुआ है। इस तरह भक्ति आन्दोलन ने भारतीय समाज में सामाजिक–सांस्कृतिक रिक्तता को भरते हुए एक ऐसी मूल्य–व्यवस्था के निर्माण का युगांत प्रस्तुत किया जिसका गहरा प्रभाव आज भी हमारी–मूल्य प्रणाली में दिखाई देता है। संतों ने कथनी और करनी भेद को मिटाने पर बल दिया। एक स्वस्थ समाज के निर्माण और रचनात्मक मूल्य चेतना के विकास में भक्ति आन्दोलन की प्रासंगिकता कभी कम नहीं होगी।

स्रोत एवं संदर्भः

1. चंद्र सुभाष (2012). दलित मुक्ति की विरासतः संत रविदास, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ–160
2. द्विवेदी, हजारी प्रसाद(2003). मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ–19
3. सिंह, शुकदेव (2001). रैदास बानी (संपा.) राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ–303
4. उपर्युक्त, पृष्ठ–131
5. उपर्युक्त, पृष्ठ–164
6. उपर्युक्त, पृष्ठ–121
7. शर्मा, रामविलास (2012). लोकजागरण और हिंदी साहित्य. राजकमल प्रकाशन, 2012, पृ. 45.
8. शुक्ल, रामचंद्र (2018). हिंदी साहित्य का इतिहास (संपा. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा). नागरी प्रचारिणी सभा, 2018, पृष्ठ–82
9. वर्मा, धर्मवीर (2019). भक्ति आंदोलन की सामाजिक चेतना और लोक संस्कृति. आलोचना, 45(2), 34–42.
10. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2015). कबीर और भक्ति आंदोलन की मूल्य चेतना. (संपा. एन. सिंह), भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक परंपरा (पृष्ठ112–128). वाणी प्रकाशन.

=====

आलेख उद्धरित करें :	सिंह, डॉ. जय प्रकाश (2026)। भारत में भक्ति आन्दोलन की मूल्य चेतना का अवलोकन। बुंदेलखंड जर्नल ऑफ अकादमिक रिसर्च (बीजेएआर), वॉल्यूम–2, अंक–3, जुलाई–सितंबर, 2026, पृष्ठ 27–30। https://doi.org/10.5281/zenodo.23005628